HAL open science

टिप्पणियों के खिलाफ एक लंबी टिप्पणी

Pramod Ranjan

▶ To cite this version:

Pramod Ranjan. टिप्पणियों के खिलाफ एक लंबी टिप्पणी. Mandal Vichar, 2007, pp.23 - 25. ⟨10.17613/5dm6-ak52⟩. ⟨hal-04534034⟩

HAL Id: hal-04534034

https://hal.science/hal-04534034

Submitted on 5 Apr 2024

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License

टिप्पणियों के खिलाफ एक लंबी टिप्पणी !

प्रमोद रंजन

वह शाम सचमुच खास थी। उन्होंने ठीक ही कहा, वक्त बहुत अच्छा गुजरा। वह क्रांतिधर्मी हैं। बंद कमरे की बहसें हों या किसी उपेक्षित कवि–लेखक के रचना–पाठ का आयोजन–या फिर सड़क पर उतरने की बात, वह अपना कंधा दूसरों के लिए हाजिर कर देते हैं। इस शहर की बौद्धिक बिरादरी में उनकी उपस्थिति 'रहस्यों' के आवरण में छिपे रहना पसंद करने वालों को विचलित करती रहती है।

उस शाम, एक खूबसूरत कहानी की आस्वादजन्य विचारोत्तेजना के दौरान भी वह अपनी भीषण वक्तृता के साथ मैदान में थे। उन क्रांतिधर्मी अग्रज मित्र का कहना था कि यह 'अतियथार्थवादी' किस्म की बहुत अच्छी रचना है तथा यह अनिवार्य है कि कहानी के साथ उसकी पृष्ठभूमि भी दी जाए। बिना पृष्ठभूमि के कहानी में अपेक्षित 'फोर्स' पैदा नहीं होगा। मैं उनसे सहमत नहीं था। मेरे लिए यह एक विकट स्थिति थी क्योंकि वहां मौजूद अन्य वरिष्ठ भी 'पृष्ठभूमि' के पक्ष में थे। हालांकि मेरे लिए वह शाम एक 'खास' अनुभव भी थी क्योंकि साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित, इस विशाल प्रायद्वीप के उच्च संसदीय सदन के सदस्य के संग चल रही उस अनौपचारिक बैठकी में साहित्य के एक युवतम विद्यार्थी की असहमति को सुना जा रहा था। सभी की बात सुनने का यह जनतंत्र हिन्दी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। वरिष्ठों ने बीती शाम मेरे लिए वह जनतांत्रिक जगह बनाए रखी, जो किसी बौद्धिक कार्य–व्यापार की भी आरंभिक शर्त है। खड़ी बोली के साथ विकसित हुई साहित्य–परंपरा ने इस 'आरंभिक शर्त' को अद्भुत ढंग से आत्मसात् किया है।

हिन्दी की पूर्ववर्ती साहित्य–परंपराओं में तत्कालीन समाज की अन्य व्यवस्थाओं के अनुरूप 'विशेषज्ञता' और 'विशेषाधिकार' का बोलबाला था। मंत्र, सूक्ति और दोहा जैसी विधाओं के पीछे उसी अलोकतांत्रिक परिदृश्य का पता मिलता है। इन बेहद कलात्मक विधाओं में रचानाकार के मंतव्य पर स्वतः स्थापित सत्य की मुहर लगी होती है। आज उनमें से अधिकांश मंतव्यों / अवधारणाओं (सत्यों!) की जांच करने पर वे महज तत्कालीन शक्ति–समूहों के हितों, अभिरूचियों के अनुकूल गढ़े गए मिथक साबित होते हैं। इन विधाओं की वंशज 'कविता' की प्रकृति में भी इस प्रवृति के अवशेष साफ तौर पर मौजूद हैं। इस मुद्दे पर हिन्दी के चिंतक प्रेमकुमार मणि के तर्क बेहद सुलझे हैं। वह कविता को सामंती समाज की विधा कहते हैं। रूसी आलोचक मिखाइल बाख्तिन ने भी कविता को एकालापी (ऑटोटलिक), जबकि उपन्यास को संवादोन्मुख विधा कहा है। हमारे यहां खड़ी बोली के साथ ही कथा–साहित्य, कहानी–उपन्यास आदि का भी उद्गम हुआ। सो, इसे बहुत दूर की कौड़ी ढूढने का प्रयास नहीं कहा जाना चाहिए कि – पद्य के 'आत्ममुग्ध एकालाप' के स्थान पर गद्य की 'संवादोन्मुखता' के आगमन से हमारा साहित्यिक समाज भी गहराई से प्रभावित हुआ है। विशेषधिकार /विशेषज्ञता के स्थान पर जनतंत्र /सहभागिता की स्थापना में गद्य की संवादपरक प्रकृति की भूमिका की पहचान की जानी चाहिए। उपरोक्त जनतंत्र, जो बौद्धिक कार्य की अनिवार्य शर्त है–इसी संवादोन्मुखता की देन है।

बहरहाल, बीती शाम वह कहानी जाबिर हुसेन साहब की थी। उन्हें हाल ही में 'रेत पर खेमा' (उर्दू) के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार, 2005 मिला है। जाबिर साहब द्वारा कहानी के पाठ के बाद चर्चा चल पड़ी। इस रचना के जन्म से पहले के वाकए ने लेखक के मूलभूत विश्वासों को छलनी कर डाला था। कहानी की जो पृष्ठभूमि उन्होंने बताई वह एक निर्मम सामाजिक सच्चाई है। लेखक को निजी स्तर पर इसे भोगना पड़ा था। उनके स्वाभिमान को कुचल देने वाली पीड़ा का वेग निश्चय ही बहुत रहा होगा। लेखक के राजनीतिक कद के कारण इसका व्यापक राजनीतिक अर्थ है। एक राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होंने एक दशक से अधिक समय तक बिहार विधान परिषद् के सभापति पद का संवैधानिक दायित्व संभाला है तथा इन दिनों राज्य सभा के सदस्य हैं। उस कहानी की पृष्ठभूमि का संदर्भ सीधे–सीधे सामाजिक न्याय की राजनीति के व्यवहार तल की विडंबनाओं से भी जुड़ रहा था। इन्हीं कारणों से वह 'क्रांतिकारी' अग्रज मित्र कहानी के साथ उसकी पृष्ठभूमि भी लिखने का 'सुझाव' उन्हें दे रहे थे।

यूं तो किसी रचना के संदर्भ में 'सुझाव' जैसी कार्रवाई को भी एक अनापेक्षित हस्तक्षेप ही माना जाना चाहिए, फिर भी राय पूछे जाने पर मैं उस 'सुझाव' के विरूद्ध था। मेरा मानना है कि किसी भी रचनात्मक विधा के साथ दी जाने वाली किसी भी प्रकार की 'टिप्पणी' उसकी अर्थ की बहुलता को बाधित तथा कलात्मकता के आस्वाद को सीमित करती है। इतना

नुकसान तो महज टिप्पणी कर देती है, 'पृष्ठभूमि' तो उसे प्रस्ताव, वक्तव्य या विरोध पत्र जैसा कुछ बना डालेगी। ''पाठ के बाहर कोई अर्थ नहीं है'' – की घोषणा करने वाले विखंडनवाद के जनक जॉक देरिदा तो 'आत्मकथ्य' को भी लेखक के वैचारिक कार्यों में एक 'दुर्घटना' मानते हैं। अपनी अवधारणाओं को विश्लेषित करते हुए उन्होंने आत्मकथ्यों को बहुत संदेह की दृष्टि से देखा है। उनका कहना है कि लेखक का निजी जीवन (राजनीतिक जीवन भी!) एक सीमांत और सांयोगिक किस्म का है। इतना ही नहीं, देरिदा रचना के साथ छपे रचनाकार के चित्र को भी रचना के मूल पाठ के अर्थग्रहण में एक किस्म का हस्तक्षेप मानते थे। देरिदा का कहना था कि कृति के साथ छपने वाला रचनाकार का चित्र पाठक से एक प्रकार की रियायत–सी मांगता प्रतीत होता है।

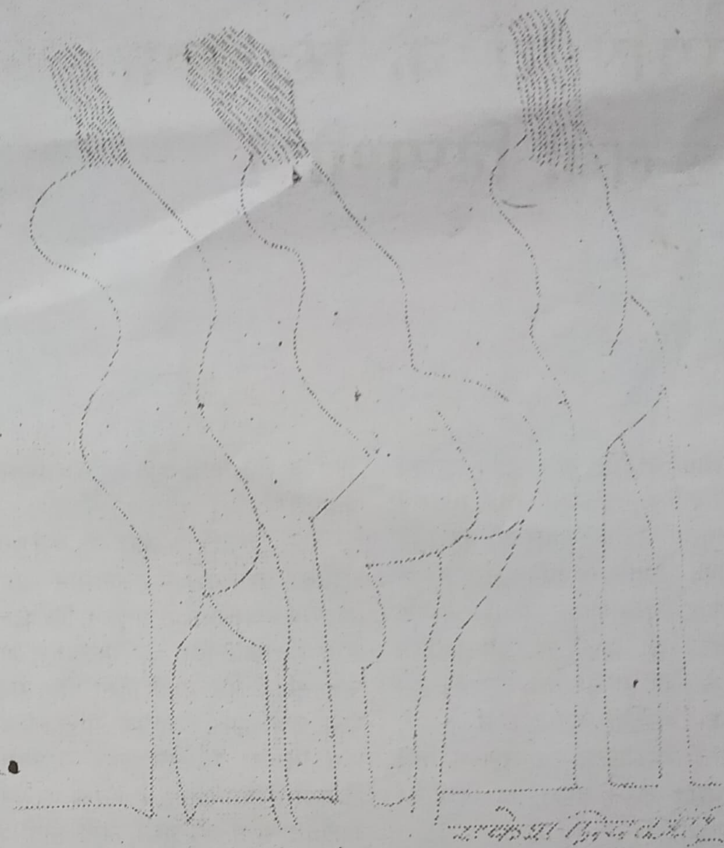

उस बैठकी में जाबिर साहब की कहानी को मैंने 'जादूई यथार्थवाद' जैसी रचना कहा तो उन अग्रज मित्र ने मुझे 'धारा के खिलाफ बोलकर सनसनी फैलाने वाला' करार देते हुए कहानी के 'अतियथार्थवादी' होने की घोषणा कर दी। मैंने अपना मत वापस लेने में ही भलाई समझी, वर्ना वह मुझे न जाने और क्या–क्या करार देते!

कई अन्य लोग भी किसी रचना की प्रशंसा में उसे 'अतियथार्थवादी' बताते हैं। यह बडी भूल है। अतियथार्थवाद का जन्म फ्रांस में 1920 के दशक हुआ था। यह शिल्प के स्तर पर अराजक और कथ्य के स्तर पर युयुत्सावादी था। चित्रकला और साहित्य के इस आंदोलन का पहला घोषणा पत्र 1924 में आंद्रे ब्रेतां ने प्रकाशित किया। वीभत्स अतिरंजनाओं को यथार्थ के प्रकटीकरण के लिए आवश्यक मानने वाले इस वाद का प्रसार इंग्लैंड समेत विश्व के कई देशों में हुआ। इंग्लैंड में अतियथार्थवाद के प्रमुख समर्थक हर्बट रीड थे। इस वाद के तहत अचेतन मन के चित्रण के नाम पर अनाप–शनाप रचनाएं की गई। मसलन, जाबिर साहब की जिस कहानी का जिक्र हो रहा था यदि वह 'अतियथार्थवादी' होती तो उसके अंत में अपनी ही कौम के खिलाफ दिखने वाले 'कबीर' जुलहों के गीतों से अशुद्ध हुए इकतारे को गंगा में धोकर मौन नहीं रह जाते। वह या तो जुलाहों का पेट फाड़ कर उनकी आंतें चबा रहे होते या फिर सहस्त्र लिंगी रूप धारण कर अपनी ही कौम के साथ गुदा मैथुन कर रहे होते!! ... अतियथार्थवाद लंबे समय तक प्रचलन में नहीं रहा। दुनिया भर के आलोचकों ने इस प्रवृति की भर्त्सना की है। किसी रचना को 'अतियथार्थवादी' कहना, उसकी प्रशस्ति नहीं अपितु उपहास है।

रचना के साथ 'पृष्ठभूमि' देने का सुझाव भी लगभग ऐसी ही स्थिति उत्पन्न करता है। कविताओं के साथ आत्मकथ्य आदि प्रकाशित करने का चलन रहा है। ऐसा प्रायः दूसरे दर्जे के कवि को महिमामंडित करने के लिए किया जाता है। इन आत्मकथ्यों को देखते ही यह आभास होता है कि कोई कलाबाज अपने करतबों का स्पष्टीकरण दे रहा है। संभवतः कुछ ईमानदार लोग कविता के 'एकालापी पाठ' को संपूर्ण बनाने के लिए ऐसा करते हों। लेकिन यह भी पाठक द्वारा अपने पाठ को तैयार करने में विघ्न उत्पन्न करना ही है। उसे भ्रमित करने की जुगत से ज्यादा इसका कोई अर्थ नहीं। कल्पना करें, मुक्तिबोध ने यदि 'अंधेरे में' के साथ 'आत्मकथ्य' भी दिया होता तो इस 'महान' कविता की क्या गति होती? क्या आत्मकथ्य के बाद इस लंबी कविता में अर्थों की वह बहुलता रह पाती, जो हमें आज भी विस्मित करती है? जो इस कविता को कालजयी बनाती है? और क्या इससे उसकी कलात्मकता का आस्वाद भी बेजायका नहीं हो जाता! आखिर, हर पाठ के साथ खुलने वाला अर्थ ही तो रचनात्मक लेखन की कसौटी है।

मुझे नहीं लगता कि इसे समझने के लिए बहुत समझदार होने की आवश्यकता है कि यदि 'पृष्ठभूमि' ही बतानी हो तो 'रचना' का क्या औचित्य?

> किसी अच्छी रचना को टिप्पणी–आत्मकथ्य–पृष्ठभूमि आदि की आवश्यकता नहीं होती। यह पाठ की बहुलता को बाधित, कलात्मकता के आस्वाद को सीमित करता है तथा यह रचना के उदे्श्य के प्रति अतिचार और रचना–प्रक्रिया की जटिलता को सरलीकृत कर देखने का परिणाम है। बाख्तिन तो यह भी कहते थे कि ''जो योग्य पाठक हैं उनके लिए संदर्भों और उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है और जो अयोग्य पाठक हैं उसके लिए ये चीजें व्यर्थ हैं।''

पृष्ठभूमि का लोप ही तो रचना का प्रस्थान बिंदु है। लेकिन ऐसा सुझाव स्वयं साहित्यिकों की ओर से आ रहा हो तो इसके कारणों पर विचार कर लेने में हर्ज नहीं। मुझे लगता है इस तरह के 'ईमानदार' सुझाव के पीछे भी दो तरह के विचार काम कर रहे होते हैं :

1. रचना से बंदूक की गोली सा काम लेने का अतिवाद।

2. 'समाज का दर्पण' मानकर साहित्य–रचना की जटिल प्रक्रिया का सरलीकरण।

रचना से बंदूक की गोली सा असर – 'फोर्स'–की मांग करने वाले अक्सर स्वयं को 'रैडिकल' मानकर चलते हैं। लेकिन हमें समझना चाहिए कि अतियों में लिप्त होना रैडिकल होना नहीं है। कला और विचार क्षेत्र में तो यह विशेषण गुणात्मक रूप से और भी अलग अर्थ रखता है। 'रैडिकल' वह है जो तथ्यों की जांच उसकी बुनियाद से आरंभ करता है, जो मानकीकृत अवधारणाओं के पार जाकर अपना काम आरभ करता है। मैं इन्हीं अर्थों में मिखाइल बाख्तिन, जॉक देरिदा, राजेंद्र यादव, प्रेमकुमार मणि आदि को 'रैडिकल' मानता हूँ। रैडिकल वह नहीं है, जो प्रचलित अवधारणाओं को खींच कर उसके अंतिम छोर पर पहुंचाने के लिए व्यग्र हो। यह अतिचार है, एक किस्म का सिनिस्जिम। पृष्ठभूमि देकर रचना को 'बयान' में तब्दील करने वाला उन अग्रज मित्र सुझाव भी इसी कोटि का था। लेकिन मैं यह नहीं भूलना चाहूंगा कि अवधारणाओं के जालों को मजबूत करने में जुटे रहने वाले रफूगरों से अधिक उपयोगी है यह अतिचार, यह सिनिस्ज़्म। यह स्थापित सत्यों के विरूद्ध उस छोर तक पहुंचने में मदद करता है जहां से 'बुनियाद' की ओर लौटने की यात्रा आरंभ होती है। वास्तव में अतिचार के अंतिम बिंदु में 'रैडिकल विचार प्रक्रिया' के प्रस्थान बिंदु की संभावनाएं छुपी होती हैं। इस अंतर्गुंफन को समझने के लिए कांट के उस विज्ञान–सम्मत कथन की ओर जाना चाहिए जिसमें उन्होंने कहा है कि ''मनुष्य का इंद्रियातीत अनुभव भी देश और काल के दायरे के बाहर नहीं है''। यानी अतिचारी और रैडिकल भी–दोनों इसी दायरे के भीतर रहकर ही काम करते हैं। कोई विचार/कला इस दायरे को लांघ नहीं सकती। रचना–प्रक्रिया भी देश–काल के भीतर ही चलकर अपनी परिणति को प्राप्त करती है। इस दायरे को स्वीकार करना रचना–प्रक्रिया की तिलिस्मी हैसियत को कम करना नहीं है, बल्कि यह स्वीकार भाव उसकी सार्थकता को गहराई से रेखांकित करता है। इसी तिलिस्मी धुंधलके में रचना का गर्भाधान होता है और वह रूपाकार ग्रहण करती है। किन्तु देश काल के दायरे में आबद्ध रहने के बावजूद साहित्यिक रचना अपने 'समाज' (देश–काल) का महज 'प्रतिबिंब' ही नहीं रहती। ऐसा होता तो उनका मूल्य 'सामयिकता' से अधिक न रहता। रचना–प्रक्रिया का तिलिस्म उसे मात्र प्रतिबिंब बनने की नियति से आगे ले जाता है। रचनाकार की अंतश्चेतना की परिघटनाएं यथार्थ के साथ मुठभेड कर रूप ग्रहण करती हैं। अच्छी रचना न स्थूल घटनाओं का बाईप्रोडक्ट भर होती हैं न ही प्रभावों का प्रतिबिंब मात्र ही। वह एक किस्म के 'रासायनिक परिवर्तन' का परिणाम होती हैं। इस परिवर्तन के क्रम में वह अपने देश–काल का विस्तार कर डालने में सक्षम हो जाती हैं। ऐसी 'सक्षम' रचनाओं को ही हम 'कालजयी' कहते आए हैं। पर 'कालजयी' भी एक अतिश्योक्तिपूर्ण विशेषण है। ऐसी सक्षम रचनाएं 'दीघार्यु' होती हैं, कालजयी नहीं। आप यह नहीं सोच सकते कि 16 वीं या 21 वी सदी की कोई रचना 10 हजार वर्षों बाद जीवित रहेगी।

खैर, जैसा कि मैंने बीती शाम कहा, किसी अच्छी रचना को टिप्पणी–आत्मकथ्य–पृष्ठभूमि आदि की आवश्यकता नहीं होती। यह पाठ की बहुलता को बाधित, कलात्मकता के आस्वाद को सीमित करता है तथा यह रचना के उदे्श्य के प्रति अतिचार और रचना–प्रक्रिया की जटिलता को सरलीकृत कर देखने का परिणाम है। बाख्तिन तो यह भी कहते थे कि '' जो योग्य पाठक हैं उनके लिए संदर्भों और उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है और जो अयोग्य पाठक हैं उसके लिए ये चीजें व्यर्थ है।'' (आलोचक/कवि विजय कुमार ने अपनी किताब 'अंधेरे समय में विचार' में बाख्तिन पर विस्तार से लिखा है) .... इधर कुछ पत्रिकाओं में पद्य की भांति गद्य के साथ भी आलोचकीय टिप्पणी, रचनाकार का साक्षात्कार अथवा उसका अतिरंजक फोटो परिचय आदि छापने का चलन बढा है। इनकी सार्थकता रचनाकार के महिमामडन से अधिक कुछ नहीं है। रचना के बजाए 'रचनाकार' को प्रकाशित करने की यह परिपाटी साहित्य–व्यापार को पाठकोन्मुख करने की जगह संकुचित ही करेगी।

कुम्हरार, पो. लोहियानगर
पटना – 800026